जैन-दर्शन और धर्म का बीज

(डॉ. श्री रतनचन्द्र जैन)

जैनदर्शन का मर्म है कि धर्म क्रिया में नहीं लक्ष्य में होता है । हम जीवन में किस चीज को पाना चाहते हैं, इस पर धर्म-अधर्म निर्भर है । यदि हम सांसारिक ऊँचाई पाना चाहते हैं तो हमारे भीतर धर्म का बीज है । क्योंकि सांसारिक ऊँचाई लक्ष्य होने पर मनुष्य धन-दौलत, सत्ता, प्रभुता और ख्याति की प्राप्ति को ही एकमात्र धर्म मान लेता है, जिसके फलस्वरूप उसकी दृष्टि में किसी भी नैतिक नियम का मूल्य नहीं रहता और वह छल-कपट, हिंसा, अंन्याय, किसी भी मार्ग का अवलम्बन कर अपने लक्ष्य को सिद्ध करने की चेष्टा करता है । अतः सांसारिक ऊँचाई पाने का लक्ष्य अधर्म का लक्षण है । इसके विपरीत, आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँचना जिसके जीवन का उद्देश्य होता है, उसकी दृष्टि में धनदौलत, सत्ता, प्रभुता, ख्याति आदि सांसारिक वस्तुओं की निस्सारता पहले ही झलक चुकी होती है । इसलिए वह इन चीजों को पाने के लिए पापमार्ग का अवलम्बन नहीं करता । जीवनोपयोगी वस्तुओं की जितनी आवश्यकता होती है उन्हें वह न्यायमार्ग से ही अर्जित करता है । इसलिए आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँचने का लक्ष्य धर्म का मूलभूत लक्षण है ।

इस प्रकार धर्म की जड़ लक्ष्य में होती है, क्रिया में नहीं । यद्यपि जैसा लक्ष्य होता है उसी के अनुसार क्रिया भी होती है, तथापि एक ही क्रिया भिन्न-भिन्न लक्ष्यों से भी हो सकती है । उदाहरण के लिए पूजा, भक्ति, स्वाध्याय, व्रत, तप आदि शुभ क्रियाएँ सांसारिक सुख, सामाजिक प्रतिष्ठा आदि लौकिक प्रयोजनों से भी की जा सकती हैं और मोक्षरूप आध्यात्मिक प्रयोजन से भी । अतः इन क्रियाओं के द्वारा यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि इन्हें करनेवाला व्यक्ति धार्मिक है या अधार्मिक । यह निर्णय केवल इस तथ्य से किया जा सकता है कि इनके पीछे उसका लक्ष्य क्या है ? यदि ये क्रियाएँ वह लौकिक प्रयोजन से प्रेरित होकर करता है तो निश्चित है कि उसके भीतर धर्म नहीं है । यदि आध्यात्मिक लक्ष्य इन क्रियाओं का स्रोत है तो निश्चित ही करने वाले के भीतर धर्म मौजूद है ।

इसी प्रकार भोजन-पान, शयन-आसन, जीविकोपार्जन, विवाह, सन्तानोत्पत्ति आदि लौकिक क्रियाएँ प्रायः सभी मनुष्य करते हैं । किन्तु जिसके जीवन का लक्ष्य आत्मा के सर्वोच्च स्वरूप को प्राप्त करना हो जाता है, उसकी ये क्रियाएँ भी धर्म का अंग बन जाती हैं । क्योंकि जब वह भोजन करता है तब स्वाद में उसकी आसक्ति नहीं होती, बल्कि धर्म के साधनभूत शरीर का निर्वाह ही प्रयोजनभूत होता है । जब वह चलता-फिरता, उठता-बैठता है तो इस बात का ध्यान रखता है कि उसकी इन क्रियाओं से किसी जीव को पीड़ा न हो । किसी से बात करता है तो मुखमुद्रा कठोर न हो जाय, वाणी में कटुता न आ जाय, इस बात का बराबर ख्याल रखता है । मुद्रा को अत्यन्त प्रसन्न और वाणी को मृदु बनाकर ही बोलता है । आजीविका अर्जित करते समय इस विषय में सावधान रहता है कि अन्याय का एक भी पैसा उसके पास न आने पावे । उसके ऊपर यदि किसी बात का पूर्ण प्रयत्न करता है कि उसके हाथों किसी के साथ तिल भर भी अन्याय न हो । रिश्वत या घूँसखोरी की तो वह स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकता । किसी को संकट में पड़ा देखकर वह कायरतापूर्वक मुख नहीं मोड़ सकता, बल्कि अपने प्राणों को भी खतरे में डालकर उसे संकटमुक्त करने की चेष्टा करता है । इस प्रकार लक्ष्य में अलौकिकता या आध्यात्मिकता आ जाने पर लौकिक क्रियाएँ भी अंशतः अलौकिक या आध्यात्मिक बन जाती हैं ।

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥

अर्थात् सम्यग्दृष्टि आत्मा इन्द्रियों से चेतन और अचेतन द्रव्यों का जितना भी उपभोग करता है वह सब निर्जरा का निमित्त होता है ।

तात्पर्य यह कि सम्यग्दृष्टि जीव का लक्ष्य निज आत्मा के सर्वोच्च स्वरूप को प्राप्त करता होता है अतः वह चेतन-अचेतन पदार्थों का उपभोग ऐन्द्रिय सुख की लालसा से नहीं करता, अपितु शरीर को आध्यात्मिक साधना के अनुकूल बनाये रखने के लिए करता है । फलस्वरूप लक्ष्य की आध्यात्मिकता से उसकी उपभोग क्रिया भी अंशतः आध्यात्मिक बन जाती है और नवीन कर्मबन्ध बहुत मामूली सा (अल्पस्थिति-अनुभागवाला) होता है ।

किन्तु जिसके जीवन का लक्ष्य सांसारिक ऐश्वर्य होता है उसकी ये लौकिक क्रियाएँ पापमय ही बनी रहती हैं, क्योंकि वह भोजन करता है तो उसमें स्वाद की लालसा होती है, वस्त्र पहनता है तो शरीर को सजाने का भाव मन में रहता है । चलते-फिरते, उठते-बैठते समय उसे प्राणियों के सुख-दुःख की चिन्ता नहीं रहती । जीविकोपार्जन में भी न्यायमार्ग की परवाह नहीं करता ।

तात्पर्य यह कि यदि सांसारिक ऐश्वर्य जीवन का लक्ष्य है तो पूजा, भक्ति, व्रत, तप, यज्ञ आदि कर्मकाण्ड भी अधर्म ही बना रहता है और यदि आत्मा का सर्वोच्च स्वरूप जीवन का लक्ष्य होता है तो लौकिक क्रियाएँ भी अंशतः धर्म बन जाती हैं ।

जैसे एक ही जाति के बीज भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमियों में बोये जाने पर भिन्न-भिन्न रूप में फलित होते हैं, वैसे ही एक ही शुभराग सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि आत्माओं के सम्पर्क से भिन्न-भिन्न फल देनेवाला हो जाता है ।

इसी प्रकार लौकिक क्रियाओं का स्वरूप भी सम्यग्दृष्टि और

द्रव्यक्षेत्र अरुकाल है, भाव भव प्रतिबंध ।
जयन्तसेन उदय सभी, जीव मात्र संबंध ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्यादृष्टि आत्माओं के सम्पर्क से बदल जाता है । परिणामस्वरूप उनका फल भी भिन्न-भिन्न हो जाता है । सार यह कि जीवन का लक्ष्य ही धर्म और अधर्म का स्रोत है ।

लक्ष्यभ्रम क्यों ?

अविद्या, माया या मिथ्यात्व के प्रभाव से मनुष्य को जीवन के वास्तविक लक्ष्य का बोध नहीं हो पाता । सांसारिक वस्तुओं में ही उसे आकर्षण दिखाई देता है, सुख का आभास होता है । इसलिए उनकी प्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य मान लेता है । किन्तु सांसारिक वस्तुओं का आकर्षण मायावी है, माया (मोह) के द्वारा उत्पन्न किया गया होता है । इसका प्रमाण यह है कि वह अस्थायी होता है । शुरु में वे आकर्षक दिखाई देती हैं, लेकिन कुछ ही समय बाद उनका आकर्षण समाप्त हो जाता है । जो वस्तु पहले रसमय प्रतीत होती है बाद में वह रसहीन हो जाती है । किसी भी वस्तु का आकर्षण, किसी भी वस्तु की सुखमयता अन्त तक नहीं टिकती । यौवन और सौन्दर्य अच्छे लगते हैं, लेकिन वे चार दिन के ही मेहमान होते हैं । दुनिया की कितनी चीजें हम प्राप्त करते हैं ! किन्तु प्राप्त होने के बाद उनका आकर्षण खत्म हो जाता है और नई चीजों में आकर्षण दिखाई देने लगता है । और जब वे नई चीजें प्राप्त हो जाती हैं तब उनका भी यही प्रश्न होता है ।

हर वस्तु की आकर्षणक्षमता सामयिक ही होती है, शाश्वत नहीं । जो चीजें युवावस्था में आकर्षक लगती हैं, वे वृद्धावस्था में आकर्षण खो देती हैं । जिन वस्तुओं में वृद्धावस्था में आकर्षण प्रतीत होता है वे युवावस्था में आकर्षणहीन होती हैं । धन भी सदा आकर्षक नहीं रहता, कभी कोई अन्य वस्तु उससे भी अधिक आकर्षक हो जाती है । जो व्यक्ति भयंकर व्याधि से पीड़ित होता है उसके लिए व्याधि से छुटकारा ही दुनिया की सर्वाधिक स्पृहणीय वस्तु होती है । अन्धे के लिए नेत्र ही संसार की सर्वाधिक आकर्षक चीज है । जिस व्यक्ति को जीवन भर धन प्रिय रहा है उसे बुढ़ापे में शायद यौवन ही सबसे ज्यादा प्रिय प्रतीत होता होगा और मरते हुए आदमी को संभवतः जीवन से अधिक प्रिय और कोई चीज न होगी । अर्थात् दुनिया में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रूप से आकर्षक और सुख देनेवाली हो । यही कारण है कि दुनिया से कोई भी आदमी सन्तुष्ट नहीं रहता । हर आदमी को दुनिया से शिकायत रहती है । इससे सिद्ध है कि सांसारिक वस्तुओं का आकर्षण मायावी है ।

इसके अलावा सांसारिक वस्तुओं की केवल जीवनयापनगत उपयोगिता है । उनसे जीवन के दुःखों का शाश्वत उपचार नहीं होता । जीवन भर अनन्त वस्तुओं का उपभोग करते रहने पर भी मनुष्य दुःखमय व्यवस्था में बँधा हुआ ही वापस लौटता है, बल्कि उसे और मजबूत कर लेता है । सांसारिक वस्तुओं के उपभोग या सम्पर्क से जीवनयापन का स्तर तो ऊँचा उठता है, लेकिन इंसानियत का स्तर ऊँचा नहीं उठता । ऐसा कोई फल या मिष्ठान्न, ऐसा कोई वस्त्र या आभूषण, ऐसा कोई पद या आसन धरतीपर नहीं है, जिसे खा लेने, पहन लेने या जिस पर बैठजाने से मनुष्य इंसानियत की ऊँचाई पर पहुँच जाय । इसलिए सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकती । मिथ्यात्व के प्रभाव से ही वे जीवन का लक्ष्य प्रतीत होती हैं ।

जीवन का लक्ष्य तो वही वस्तु हो सकती है, जो जीवन के दुःखों का शाश्वत उपचार हो, जिससे परमसंतोष की उपलब्धि हो, जिससे जीवनयापन का स्तर नहीं, स्वयं जीवन का स्तर ऊँचा उठे, जिससे मनुष्य अपनी क्षुद्र सांसारिक अवस्था से मुक्ति पाकर सर्वोच्च परमात्म अवस्था में प्रतिष्ठित हो जाय । वह वस्तु लौकिक नहीं हो सकती, क्योंकि जैसा पूर्व में कहा गया है, लौकिक वस्तुओं से दुःखों का शाश्वत उपचार नहीं होता, न ही व्यक्ति का गुणात्मक उन्नयन होता है । यह किसी अलौकिक वस्तु से ही संभव है । वह अलौकिक वस्तु एक ही है - स्वयं का सर्वोच्च स्वरूप । वह स्वयं में आनन्दमय है और शाश्वत है । अतः उसकी उपलब्धि से हम शाश्वत रूप से आनंद में प्रतिष्ठित हो जाते हैं । स्वयं के सर्वोच्च स्वरूप की प्राप्ति का अर्थ है शरीर से सदा के लिए छुटकारा । शरीर सम्बन्ध ही दुःखों का कारण है । अतः उससे सदा के लिए छुटकारा मिल जाने पर दुःखों का शाश्वत उपचार हो जाता है ।

जब स्वयं की सर्वोच्च अवस्था जीवन का लक्ष्य होती है, तब दैनिक जीवन की क्रियाएँ भी धर्म बन जाती हैं । आज मनुष्य को कर्मकाण्ड में लगाने की बजाय उसके जीवनलक्ष्य को बदलने की, उसे सम्यक् बनाने की जरूरत है, ताकि मनुष्य का साँस लेना भी धर्म बन जाय, उसका चलना-फिरना, उठना-बैठना, सोचना-विचारना, हंसना-रोना, जीविकोपार्जन करना इत्यादि सम्पूर्ण जीवनपद्धति ही कर्मकाण्ड का रूप धारण कर ले । विडम्बना यह है कि अधिकांश लोगों के जीवन में थोथा कर्मकाण्ड तो जोरशोर से आ जाता है, लेकिन जीवनपद्धति धर्म से अनुप्राणित नहीं हो पाती, जिससे धर्म के ढोल पीटते रहते हैं, लेकिन धर्म का परिणाम परिलक्षित नहीं होता ।

डॉ. श्री रतनचंद्र जैन

जैन दर्शन तथा संस्कृत का विशेष अध्ययन । 'जैन दर्शन के निश्चय एवं व्यवहार नयों का समीक्षात्मक अध्ययन' विषय पर शोध प्रबंध ।

सम्प्रति - रीडर (संस्कृत और प्राकृत) विश्वविद्यालय, भोपाल.

संपर्क : ई, ७/१५, चार ईमली, भोपाल-४६२ ०१६.

कहना सो कह दीजिये, अपने दिल को खोल ।
जयन्तसेन मलीन मन, मिलना मात्र मखोल ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org